'लोक-साहित्य परंपरा : हमारी जड़ें'

Dr.(Asst. Prof) Chaitali Sinha

SHAHEED BHAGAT SINGH EVENING COLLEGE

'लोक-साहित्य' अर्थात् लोक का साहित्य। 'लोक' शब्द मानस में आते ही अति साधारण जन-जीवन से जुड़े मानव समाज की छवि उपस्थित हो जाती है। जिनका आख्यान किसी ग्रन्थ में नहीं वरन् मौखिक अभिव्यक्तियों से ज्ञात होता है। ये अभिव्यक्तियाँ वाचिक परंपरा की धरोहर हैं। इसमें शामिल राग-रागिनियाँ भले ही किसी और की हो, किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो परंतु कहलाता यह पूरे समूह का है और अंत में सबका कंठाहार भी बन जाता है। 'लोक' अभिव्यक्ति की अपनी महत्ता होती है लेकिन इसका भी एक स्याह पक्ष यह है कि समय के साथ एवं एक व्यक्ति या समाज से दूसरे व्यक्ति और समाज तक आते-आते यह अपने मूल रूप से परिवर्तित होता जाता है, कभी-कभी तो इसे बहुत अधिक महिमा मंडित भी किया जाता है और कभी विकृत कर दिया जाता है।

यहाँ प्रत्येक वाणी और लहज़ा 'लोक' का अपना होता है। 'लोक-साहित्य' की रचना प्रक्रिया में किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि पूरे लोक-समाज का समान योगदान होता है। सबकी भूमिका बराबर होती है। इसी संदर्भ में नीरजा माधव लिखती हैं कि – "नितांत निजी अनुभूतियों का संसार होते हुए भी अपने समय की विसंगतियों और परिस्थितियों से बिलकुल उदासीन नहीं रहता यह लोक साहित्य। 'लोक-साहित्यों' को लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया तो बहुत बाद से शुरु हुई। वेदों को 'श्रुति' इसीलिए कहा गया कि श्रवण के द्वारा वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते आये हैं। रामायण और महाभारत भी एक लंबे समय तक वाचिक परंपरा में ही कहे और सुने जाते रहे।"[1]

दरअसल ग्रामीण जीवन-शैलियों में रचे-बसे लोक-संगीत, लोक-नृत्य, भाषा-बोली, पोशाक, रहन-सहन और खान-पान से जुड़ी विशेषताओं-विविधताओं को लोक साहित्य के अंतर्गत

ही कहा जा सकता है। लोक-साहित्य वास्तव में सामान्य जन-जीवन की ही उपज है। यहाँ आभिजात्य वर्ग का सरोकार, उसका दख़ल बिलकुल ना के बराबर होता है। "लोक-साहित्य' का अपना सृजन संसार और शैली है, जिसमें किसी प्रकाशन और पहचान की अपेक्षा नहीं होती। यही कारण है कि इन वाचिक रचनाओं का कोई प्रामाणिक काल भी निर्धारित न हो सका।"[2] अतः सामान्य जन-जीवन विशिष्ट जन-जीवन से सदैव भिन्न रहा है।

देखा जाए तो 'लोक' में पूरा संसार समाहित है। यहाँ स्त्री-पुरुष; दोनों की वेदनाएं अपनी अलग कथाएँ कहती हैं। इनमें किताबी ज्ञान या बौद्धिकता के लिए कोई अवकाश नहीं, जो है अविच्छिन्न धारा में भावनाओं और कल्पनाओं का निर्बाध बहता स्त्रोत है। "वाचिक परंपरा की ही अनविछिन्न श्रृंखला है हमारा लोक साहित्य, जो अधिकाँश स्त्रियों द्वारा रचित और कंठ से कंठ तक की अविराम यात्रा का साक्षी है।"[3] एक वाक्य में कहें तो लोक-साहित्य अपनी विविधताओं के साथ ही हमें उदात्त भी बनाता है।

'लोक-साहित्य' का अर्थ केवल उतना ही नहीं है जितना कहने और सुनने में अनुभव होता है। इसका कलेवर अत्यंत व्यापक है। जितना इसके भीतर धंसेंगे उतनी ही परतें खुलती जायेंगी। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और अंचलों में प्रवेश करते हुए इसका फ़लक फैलता जाता है। किसी भी प्रांत के किसी भी छोर पर चलें जाएँ वहां उनका अपना 'लोक-साहित्य' अवश्य मिलता है। चाहे बंगाल हो या बिहार, राजस्थान हो या हरियाणा, महाराष्ट्र हो या उत्तर-प्रदेश, पंजाब हो या मध्यप्रदेश, कश्मीर हो या कन्याकुमारी। सबकी अपनी लोक संस्कृति है, लोक-संगीत है, लोक-गीत है और लोक-भाषा है। इस लोक-भाषा और लोक-संस्कृति में जो रस है वह रस सबको आत्मसात करने पर विवश करता है। यहाँ रस की निष्पत्ति नहीं बल्कि रस की उत्पत्ति होती है।

इसी उत्पत्ति की क्षमता को देखते हुए अलग-अलग विद्वानों ने लोक-साहित्य की अलग-अलग परिभाषाएं देने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ : धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित पुस्तक 'हिन्दी

साहित्य कोश (भाग-1)' के अनुसार 'फोक' के पर्याय से लोक-साहित्य के कई अर्थ ध्वनित होते हैं , जैसे : लोक-साहित्य "उस लोक का साहित्य है, जो सभ्यता की सीमाओं से बाहर है, सभ्य समाज में जिनकी गिनती नहीं-उनका साहित्य। जंगली जातियों का साहित्य। 'फोक' शब्द के अंतर्गत वे ही लोग आ सकते हैं, जो आदिम परंपरा को सुरक्षित रखे हुए हैं क्योंकि लोक-साहित्य ('फोक लिट्रेचर') का संबंध 'फोक-लोर लिट्रेचर' अथवा लोक-वार्ता-साहित्य से है, लोक-साहित्य ग्रामीण साहित्य है, लोक-साहित्य वह युग-युगीन साहित्य है, जो मौखिक परंपरा से प्राप्त होता है, जिसके रचयिता का पता नहीं, जिसे समस्त लोक अपनी कृति मानता है, लोक-साहित्य वह साहित्य है, जो लोक-मनोरंजन के लिए लिखा गया हो- उस लोक के लिए, जो विशेष पढ़ा-लिखा नहीं।"[4]

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के मतानुसार 'लोक-साहित्य' वह है जो "परंपरागत जीवन-यात्रा की पद्धति तथा सामाजिक आचार-विचार, श्रद्धा के द्वारा अभिव्यक्त होती है।"[5]

अब प्रश्न यह है कि 'परंपरा' क्या है, किसे कहते हैं? दरअसल परंपरा 'लैटिन' शब्द के 'ट्रेडरे से निकला है जिसका अर्थ है संचारित करना, सौंपना अथवा सुरक्षित रखने के लिए देना। 'परंपरा' "विश्वासों या व्यवहारों (लोक रीति-रिवाज़ों) की एक प्रणाली है जो अतीत में उत्पत्ति के साथ प्रतीकात्मक अर्थ या विशेष महत्व वाले लोगों या समाज के समूह के भीतर पारित की जाती है। यानी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और लोक-कथाओं का घटक।"[6] परंपरा का मूल मौखिक और वाचिक ही है , लिखित प्रणाली का हस्तक्षेप यहाँ न के बराबर है। परंपराएँ धीरे-धीरे बदलती हैं, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, दूसरी से तीसरी और तीसरी से चौथी पीढ़ी। यह पीढ़ी का ही तो अंतराल है कि जो लोक-साहित्य हमारे पुरखे किसी समय रचकर चले गए आज हम उन्हें पढ़ और लिख रहे हैं , उनपर विचार-विमर्श कर रहे हैं। उन्हें विस्मृत नहीं किया बल्कि संजो कर रखा है।

लोक-साहित्य का उद्गम पश्चिम में भी इसी तर्ज पर हुआ है ; मौखिक और वाचिक परंपरा के रूप में। वहां भी किस्सागोई की ही प्रथा रही है। पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र में रुडयार्ड किपलिंग और पेट्रिक हेनरी का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। रुडयार्ड किपलिंग ने लोक-साहित्य पर

बहुत काम किया, जैसे कि – 'रिवाड्र्स एंड फेयरी', 'पक ऑफ़ पूक्स हिल' इत्यादि। उनकी प्रसिद्ध कृति 'द जंगल बुक' को कौन नहीं जानता। किपलिंग के अतिरिक्त ए.के. रामानुजन, एलेन गार्नर इत्यादि कई रचनाकारों ने लोक-साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

पाश्चात्य साहित्य में लोक-साहित्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार से है : "*Folklore is made of two words : folk, which means regional people, and lore, which means stories. Therefore, folklore reflects stories told by people in a particular region. Folklore can define a population's values, beliefs, and preferred way of life with its literary themes."*[7]

लोक-साहित्य परंपरा का आरंभ मिथक से ही माना जाता है जहाँ लिखित परंपरा कम और वाचिक परंपरा का बाहुल्य अधिक है। हमारी परम्पराओं में जो लोक-साहित्य, लोक-नाट्य अथवा लोक-गीत इत्यादि मिलते हैं उसका आधार सर्वप्रथम किम्वदंतियों के रूप में वाचिक ही रही है। 'किस्सागोई' भारतीय परंपरा की धरोहर के रूप में आज भी हमारे साहित्य और समाज में पैबस्त है। कथा कहने और सुनाने का चलन आदिकाल से रहा है। कहते हैं आदि कथा वाचक भगवान् शिव और आदि श्रोता माँ पार्वती ही हैं। "शिव जी ने कथावाचक के रूप में पहली बार माता पार्वती को कथा सुनाई , जिसे गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' के रूप में लिपिबद्ध किया था। 'कथा' की यह परंपरा किस्सा, कहानी, चरित, कादंबरी और दास्तान आदि रूपों में सदियों से मौजूद थी। भारतीय कथा परंपरा में आख्यानों की एक लंबी परंपरा मिलती है, जिसमें ऐतिहासिक, काल्पनिक, धार्मिक और पौराणिक कथाएँ कही जाती रही हैं। 'महाभारत', 'रामचरितमानस', 'हर्षचरित', 'कादंबरी' एवं 'दशकुमारचरित' आदि भारत में आख्यान परंपरा की कुछ उपलब्धियां हैं, जिनमें लोककथाओं और कल्पना का मिश्रण है।"[8]

'लोक' शब्द का उच्चारण करते ही हमारे मानस में जन-साधारण से जुड़ी हुई वे तमाम बातें कौतूहल जगाने लगती हैं जो खेतों में, खलिहानों में, नदी-पर्वत-झरने और प्रकृति के सानिध्य में रचा-बसा संगीत, कला, शिल्प-कला और लोक-साहित्य के भीतर गुंजायमान है। 'लोक' में मौजूद चीज़ों को लिपिबद्ध करने की परंपरा पहले से नहीं रही है, वह मौखिक ही अधिक रही, लिखित कम। परंतु वर्तमान समय में इन्हें सहेजने का चलन बढ़ा है। चाहे वह क्षेत्रीय नाच हो, संगीत हो, पर्व-त्योहार, शादी-ब्याह में गाये वाले गीत हों या कीर्तन-मण्डली द्वारा अष्टयाम में गाये जानेवाले राधा-कृष्ण की स्तुति हों। हमारे भारतीय परम्परा में सोहर, चैती, कजली, जच्चा, भात, भवया, , घाटु गीत, आल्हा-ऊदल इत्यादि को गाये जाने की रीत तो सदा से चली आई है। इससे इतर ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे अनेक पूजा-पर्व हैं जो कभी साहित्य की मुख्यधारा में तो क्या लोक-साहित्य में भी नहीं आ पाता है। बिहार के अनेक प्रान्तों में कुछ पर्व ऐसे भी मनाये जाते हैं जिनका अपना एक कल्चर है। उसमें लोकगीत हैं और वे बहुत मार्मिक एवं यथार्थपरक हैं। उन लोकगीतों को कभी किसी लोक-साहित्य में भी नहीं देखा-पढ़ा जाता। कारण उसकी भिन्न-भाषा-बोली हो सकती है। बिहार के ही किशनगंज जिले से चालीस किलोमीटर दूर और उससे भी इतर क्षेत्रों में एक ऐसा पर्व है जो अगस्त के महीने में मनाया जाता है। उसके देवी-देवता घाटो, कोतवाल और मालियान इत्यादि के नाम से जाने जाते हैं। उस पूजा को कई दिनों तक किया जाता है और हर रोज़ अलग-अलग विधि से कुछ गीत गाये जाते हैं जिनके बोल 'सुरजापूरी' बोली में निहित है। ये गीत बहुत ही कारुणिक और किस्सागोई से भरे हुए हैं। ये गीत माँ, पत्नी और पुत्र के अच्छे-बुरे संबंधों एवं उनके परिणामों पर आधारित हैं। इस पूजा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मिट्टी के बने छोटे-छोटे प्रतिमाओं को हलवा, सत्तू और खीर के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के फूल भी खिलाये जाते हैं। जैसे कि – टगर, रूपा , चंपा , फुटकी, कनैल, गुआ इत्यादि। इन फूलों का भोग लगाया जाता है, भोग लगाने के साथ ही गीत भी गाये जाते हैं। उन गीतों में प्रायः एक कहानी छिपी हुई होती है। मिट्टी के उन देवी-देवताओं को मनाया जाता है कि – "हे घाटोसोरी तुम रोओ मत फुटकी (वनफूल गुलाबी रंग का) फूल के बदले तुम्हें टगर फूल खिलाएंगे, रूपा के बदले चंपा खिलाएंगे। दूसरे संदर्भ की बात करें तो सास-बहु के कड़वे संबंधों को उजागर करता एक गीत ऐसा भी है जहाँ

बेटा अपनी माँ से कहता है कि यदि मेरी पत्नी मरी तो उसे चन्दन की लकड़ी से जलाऊंगा और यदि तुम मरी तो कुत्ते और सियार को बुलाऊंगा ताकि वे तुम्हारी बोटी नोच-नोचकर खाए क्योंकि तुमने मेरी बीवी को बहुत सताया है। इस गीत में सास अपनी नयी बहू को खाने में ज़हर देकर मार देती है। इन गीतों के बोल 'सुरजापूरी' (बांग्ला, असमिज़ और उड़िया से मिलती-जुलती) बोली में निहित है , जिसके भाषिक उद्गम का तो पता नहीं चलता परंतु इतना अवश्य है कि जॉर्ज ग्रियर्सन ने ज़रूर इस बोली का अध्ययन किया होगा अपने भाषाई शोध के दौरान। जॉर्ज ग्रियर्सन एक प्रशासनिक अधिकारी के तौर पर बिहार के पूर्णिया जिले में लंबे समय तक कार्यरत रहे और अपने कार्यकाल में उन्होंने बिहार में बोली जानेवाली अनेक भाषाओं एवं बोलियों पर शोध किया। ऐसे में 'सुरजापूरी' बोली का उन्हें ज्ञान न हो यह थोड़ा अविश्वसनीय लगता है। अतः जिस लोक-कथा की चर्चा ऊपर की गई है वह भी लोक-साहित्य का एक अंग माना जा सकता है। यह अनायास नहीं है। इस लोक गाथा को लोग 'आल्हा' की शैली में ही गाते और याद करते हैं। उदाहरण स्वरुप इनके बोल देखें – "ना कानिस मालियान गे

(मत रो मलियान – देवी)

ना कानिस कोतवाल रे

(मत रो कोतवाल- सिपाही)

फुटकी फुलेर बोदोले,

रूपा फूल खिलामू।"[9]

यह सुनने में अटपटा ज़रूर लगता है क्योंकि हम-आप में से बहुत लोग पहली बार इसे पढ़ रहे होंगे परंतु अटपटा नहीं लगना चाहिए क्योंकि इसका अपना एक आख्यान है, एक परंपरा है। यह बोली शोध की माँग ज़रूर करती है। लिखित दस्तावेज़ न होने के कारण इसका कोई साहित्यिक

*शब्द और उनके अर्थ

1. कानिस – रोना (सुरजापूरी बोली)
2. फुटकी फूल – गुलाबी रंग के वनफूल, जो बांस की झाड़ियों के किनारे उगती हैं।
3. बोदोले – बदले में
4. खिलामू – खिलाऊँगी

परिचय नहीं मिलता परंतु इसे बोलने वालों की संख्या काफी है। दरअसल "लोक-साहित्य मानव समाज के उन लोगों का साहित्य है, जो सभ्यता, औपचारिकता एवं नागरिक संस्कारों से दूर अपनी आदम प्रवृत्तियों से आबद्ध सहजावस्था में जीवन व्यतीत करते हैं। परंपरा इसके आधार हैं और जनभाषा इसकी अभिव्यंजना का माध्यम।"[10]

पाश्चात्य साहित्य में भी लोक-साहित्य उन्हीं संस्कृतियों की विद्या (पारंपरिक ज्ञान और विश्वास) को कहा गया है जिनकी कोई लिखित भाषा नहीं है। वहां भी मौखिक रूप ही सबसे पहले चलन में आया। ऐसा कहा जाता है कि लगभग 4000 ईसा पूर्व तक सभी साहित्य मौखिक था, लेकिन 4 से 3000 ईसा पूर्व के बीच के वर्षों में, मिस्र और सुमेर में मेसोपोटामिया सभ्यता दोनों में लेखन का विकास हुआ। प्राचीन काल से ही कुछ रचनाकारों ने मौखिक आख्यानों से कहानियाँ उधार लीं और उनके लोक-मूल को विस्मृत कर दिया गया। होमर एवं बियोवुल्फ़ में इसके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

"फिनलैंड में साहित्यिक महाकाव्य के निर्माण में लोक-साहित्य के प्रत्यक्ष उपयोग का एक अच्छा उदाहरण देखा जाता है। "'कालेवाला' 1830 के दशक में एलियास लोनरोट द्वारा रचित मुख्य रूप से फिनिश गायकों द्वारा रिकॉर्ड किये गए महाकाव्य गीतों को मिलाकर तैयार किया गया था। 'कालेवाला' अपने आप में एक राष्ट्रीय साहित्यिक स्मारक है, लेकिन लोनरोट द्वारा सुने गए गीत लोक-साहित्य का हिस्सा हैं।"[11]

लोक-साहित्य परम्परा में लोक-साहित्य का काव्य-शिल्प सदैव उपेक्षा का विषय रहा है। वैसे शिल्प कभी भी स्थिर नहीं रहता, वह मनुष्य की जीवन-पद्धति के साथ निरंतर बदलता रहता है।

'लोक' शब्द की कल्पना करते ही उच्चवर्ग के विपरीत एक ऐसे वर्ग या समुदाय की सभ्यता एवं संस्कृति का बिम्ब-चित्र हमारे सामने आ खड़ा होता है, जिसके ज्ञान का आधार कोई ग्रन्थ नहीं बल्कि, वहां के जन-जीवन में रची-बसी मौखिक परम्पराओं की प्रचुरता है। इसी 'लोक' शब्द को

अंग्रेज़ी में 'Folk' कहते हैं, जिसका प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव एवं स्थान दोनों अर्थों में किया गया है –

"नाभ्यां आसी दतरिक्ष शीष्णों द्यौ: समवर्तत।

पदभ्यां भूमिदर्श: श्रोत्रात्तया लोकनाक ल्पयत् ॥"[12]

'लोक' शब्द का अत्यंत व्यापक अर्थ है जो भारतीय जन-मानस से जुड़ा हुआ है। यहाँ 'लोक' से तात्पर्य शहरी जन-जीवन से न होकर बल्कि उन ठेठ ग्रामीण, देहाती एवं कस्बों की किस्से-कहानियों, सभ्यता और संस्कृति से है जो हरेक की आत्मा में बसी हुई है। यहाँ लोक में राम भी बसते हैं और कृष्ण भी , सीता भी बसती है और पांचाली भी। 'लोक' में यथार्थ का समावेश शत-प्रतिशत तो नहीं परंतु उसका कुछ अंश ज़रूर मिलता है।

भारतीय लोक-साहित्य के दो भेद माने जाते हैं – 1. लोक-वार्ता-साहित्य 2. वाणी-विलास, इतर साहित्य। **<u>लोक-वार्ता-साहित्य</u>** – "वह साहित्य है, जिसमें किसी समुदाय-की लोक-वार्ता अभिव्यक्त हुई है अथवा जो स्वयं लोक-वार्ता का एक आनुष्ठानिक अंग हो। इस क्षेत्र से बाहर का समस्त लोक-साहित्य इतर लोक-साहित्य है।"[13]

समस्त लोक-साहित्य को मुख्यतः चार भागों में बांटा गया है – (१) लोक-गीत, (२) लोक-गाथा, (३) लोक-कथा और (४) लोक-नाट्य।

भारतीय लोक साहित्य परंपरा में लोक-गीतों की एक विशिष्ट पहचान है। इसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन भी है। संस्कृति के रक्षक कहें तो अनुचित नहीं। यद्यपि इसीलिए महात्मा गाँधी ने इसे 'संस्कृति के पहरेदार' कहा है। एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटेनिका के लेखकों के अनुसार – लोकगीत मनुष्य की उत्पत्ति, विकास और रीति-रिवाज़ों की विधा है तो वहीं फ्रैंक सिजविक ने

लोक-गाथा (अंग्रेज़ी के बैलेड शब्द का पर्याय) के विषय में लिखा है कि "लोक-गाथा वह सरल वर्णनात्मक गीत है जो 'लोक' मात्र की संपत्ति होती है और जिसका स्वरुप मौखिक होता है।"[14]

लोक-गाथा और लोक-कथा में मुख्य अंतर इस बात में है कि लोक-गाथा एक लम्बे आख्यान-गीत के रूप में चलती है और इसमें प्रबंध-योजना गाथा-प्रधान न होकर रस-प्रधान होती है, जबकि लोक-कथा गद्यात्मक होने के साथ-साथ कथा प्रधान अथवा दूसरे अर्थों में कहें तो घटना-प्रधान हुआ करती है। लोक-नाट्य की परंपरा बहुत प्राचीन परंपरा है। डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में – "हिन्दी नाट्य परंपरा का मूल स्रोत यह जन-नाटक ही है जो 'स्वांग' आदि नाम से प्राचीन रूप से अब तक विद्यमान है।"[15]। भारत में लोक-नाट्य का आरंभ संस्कृत नाटकों से ही माना जाता है। लोक-नाट्य सर्वसुलभ रंगमंच को ध्यान में रखकर आंगिक और वाचिक (नाटक के प्रकार) अभिनय पर केंद्रित स्वांग अथवा लीला तक सीमित रहता है। इसमें सामयिकता का विशेष ध्यान रखने के कारण स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता नहीं होती या फिर कम होती है। लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं में कथा-शिल्प ही प्रमुख रहता है, केवल लोक-गान ही एक ऐसा भेद है, जिसमें अपने समुचित रूप में शिल्प-विधान विकसित हो पाता है। भारत में लोक-नाट्य के विविध रूप मिलते हैं ; रामलीला, रासलीला, भाण, मांच, जात्रा, स्वांग, कीर्तन, तमाशा, भवाई, बारहमासा तथा नौटंकी इत्यादि। उपर्युक्त सभी प्रकार के रूपों में शिल्प-विधान के ये अंग समान रूप से मान्य हैं।

लोक-साहित्य की सृजनभूमि विशिष्ट साहित्य की सृजनभूमि से अलग होती है। यह लोक-साहित्य की ही शक्ति है कि उसके किसी भी भेद का निर्माण अकेले में नहीं होता। प्राय: वे सभी स्थान उपरोक्त साहित्य के सृजनकेंद्र होते हैं जहाँ समय-समय पर उसे प्रेम अथवा आवश्यकताओं से प्रेरित ग्रामवासी एकत्र करते हैं। अतः ऐसा कहना कि लोकसाहित्य के अंग का आज जो स्वरूप है वही कल भी था और आगे भी रहेगा थोड़ा असंभव-सा प्रतीत होता है। यदि हम कहें कि लोक-साहित्य का प्रमुख सृजनस्थल चौपाल एवं आँगन है तो यह अनुचित नहीं होगा। प्रायः घर और आँगन में होनेवाली बैठकें, किस्से-कहानियाँ, हँसी-ठिठोली गाँव की जीवंतता को दर्शाता है। यहाँ लोग एकत्र होकर तमाम तरह की किम्वदंतियों को सच्ची घटना के रूप में साबित करने का प्रयास

करते दिखाई देते हैं, उनके बीच नाना प्रकार की बातें चलती रहती हैं। अलग-अलग गाँवों और कस्बों के रीति-रिवाजों की चर्चा, धार्मिक चर्चा, गल्प विधान, खेतीबाड़ी की बातें तथा लोकगीत आदि समय-समय पर गाँवों की रूह को सजीव बनाते रहते हैं। आगे चलकर यही किस्से-कहानियाँ कुछ वर्षों में विस्तृत लोकसाहित्य का रूप धारण कर हमारे समक्ष आ खड़ी होती हैं। आंगनों एवं खेत-खलिहानों के अतिरिक्त और भी कई ऐसे स्थान होते हैं जहाँ लोक-साहित्य की विभिन्न विधाएँ जन्म लेती हैं। खेतों में निराई-बुआई अथवा कटाई करते समय, रोपनी करते समय, गेंहू-धान के गट्ठर ढोते समय, एक टोली में बंधकर मजूरी करते समय, तीर्थाटन करते हुए, मेला जाते हुए, ठण्ड के दिनों में आँगन के बीचोंबीच अलाव जलाकर बैठते समय या यों कहें कि जब-जब और जहाँ-जहाँ गाँव के लोग जुटते हैं तब और तहाँ लोकसाहित्य का निर्माण स्वतः ही स्फुरित होने लगता है।

एक समय था जब लोग बायस्कोप देखने के लिए उन्मत्त रहते थे,सिनेमा देखने के लिए बाहर से फ़िल्मी पर्दों की व्यवस्था की जाती थी और लोग फ़िल्म से अधिक उस परदे को देखने के लिए उत्सुक रहते थे। उनकी यह जिज्ञासा बड़ी दिलचस्प हुआ करती थी कि आख़िर नायक-नायिका इस परदे पर चलते कैसे हैं, आवाज़ कहाँ से आ रही है , उनके गीत कौन गा रहा है...इत्यादि। परंतु देखते ही देखते फ़िल्मी गीतों ने भी गाँवों में अपनी जगह बना ही ली। इसका नुकसान ये हुआ कि ठेठ लोकगीतों की धुन और गूंज शनैः शनैः क्षीण होती गयी। लोकगीतों की रूह नष्ट होने के पीछे शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी एक बड़ा कारण माना जाता है, जिसके कारण गाँवों की भाषा-बोली में गाये जानेवाले लोक गायकों; स्त्री एवं पुरुषों का अभाव होता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं जब विभिन्न संस्कारों के मौके पर गाए जानेवाले प्राचीन लोकगीत लुप्तप्राय हो जायेंगे और उसकी जगह नये तेवर के गीत अपनी जगह बना लेंगे।

सुमन राजे ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में लिखा है कि किस प्रकार पहले के समय में घर की स्त्रियाँ जांता चलाते हुए अपनी व्यथा-कथा को प्रकट करती थीं। दरअसल ये प्रकटीकरण भी एक प्रकार से लोकगीत का सृजन ही करता है। वह लिखती हैं : "यह लोक-गीतों का वह एकांत कोना है जहाँ स्त्रियाँ एक प्रहर रात रहे उठकर, चक्की चलाती हैं और अपनी व्यथा-कथा कहती हैं : "कोठिलहि बहुवरि सरली की दइया रे ना

बहुअरि मेडवा मसउढे क सगवा रे ना।""[16]

यह सच है कि स्त्रियों द्वारा गाई गई गीतों में उनका अपना उद्गार है। विरहा भी इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इसीलिए पुरुषों के गीतों के तेवर अलग और स्त्रियों के गीतों के तेवर अलग रहे हैं सदा से। स्त्रियों का दुःख अपना दुःख रहा है , उसकी पीड़ा सिर्फ़ उसकी अपनी पीड़ा रही है। आज भी ग्रामीण स्त्रियाँ गेहूँ पीसते हुए, चीयुड़ा कूटते हुए तथा धान कूटते हुए अनेक ऐसी लोक-धुनें गुनगुनाती हैं जिनमें उनका अपना दुःख-दर्द शामिल होता है। इन दुखों का उल्लेख वे न तो अपनी माँ से कर सकती हैं और न ही अपने पिता से। एकमात्र भाई ही उनका सहारा होता है जिनसे ये अपनी तकलीफ़ साझा करती हैं। इसी संदर्भ में सुमन राजे लिखती हैं :

"कै मन कूटौं भैया कै मन पीसों रे ना।

भैया कै मन सिझवंउ रसोइया रे ना।

सास खाँची भरि बसना मंजावइ रे ना।

पीठि देखौ भैया पीठि देखौ, जैसे धोबिया क पाट रे।

कपड़ा देखौ भैया कपड़ा देखौ जैसे सवंनवा के बदरी रे।"[17]

उक्त गीत एक स्त्री की व्यथा-कथा नहीं वरन् उन समस्त अभागी स्त्रियों की है जो कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में प्रताड़ित हैं। परंतु अपना कष्ट किसी से कह नहीं पाती। स्त्रियों द्वारा गाये हुए अनेक लोक-गीत हैं जो लोक-साहित्य का हिस्सा हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे गीत भी हैं जिनमें गालियों का वर्णन, (देवर-भाभी का मज़ाकिया संबंध, साली-जीजा, ननद-भौजाई की तू-तू, मैं-मैं, समधी-समधन का मज़ाक करने के बहाने) बहुत

1. सिझवंउ – सिझाना (पकाना)
2. बसना – बर्तन–बासन
3. मंझावइ – बर्तन मांजना
4. खांची – टोकरी–भर
5. बदरी – बादल

सामान्य-सी बात है। वास्तव में लोक की असल जड़ें यही हैं। यहीं से अंकुरित होता है लोक-परंपरा का साहित्य। ये सामान्य लोक-मानस हैं जो लोक-साहित्य के निर्माण के सबसे प्रमुख औज़ार हैं। इनमें भाषा की शिष्टता पर बल नहीं दे सकते क्योंकि लोक-साहित्य की भाषा बौद्धिक और साहित्यिक भाषा न होकर आम मानुष की भाषा है। अशिक्षित या कम पढ़े-लिखे लोगों की बोली-वाणी है और यह लोक-साहित्य की पहली शर्त है। दूसरी शर्त यह है कि इसकी रचना-प्रक्रिया में केवल एक व्यक्ति का नहीं वरन् समूचे समाज का सम्यक योगदान, उनकी भूमिका निहित होती है। लोक-साहित्य को कुछ लोग ग्राम-साहित्य भी कहते हैं परंतु इनमें अंतर है - "ग्राम-साहित्य केवल ग्रामों का साहित्य ही होगा, लोक-साहित्य नगर और शहर में भी मिलता है। ग्राम साहित्य के अंदर वह साहित्य भी आ सकेगा जिसे कोई ग्राम निवासी ग्राम-रुचि के अनुसार आज भी रचता हो।"[18] लोक साहित्य का क्षेत्र काफ़ी विस्तृत है क्योंकि इसके अंतर्गत लोक-गीत, लोककथा, कहानी, व्रत, पूजा-पाठ अथवा स्वांग ही नहीं बल्कि और भी बहुत कुछ समाहित होते हैं।

डॉ.अमरनाथ लोक-साहित्य का अभिप्राय बताते हुए लिखते हैं – "लोक-साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर जिसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता है और जिसमें लोक की युग-युग की वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिंबित रहता है, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहज़ा लोक का अपना होता है और उसके लिए अत्यंत सहज और स्वाभाविक होता है।"[19]

उपर्युक्त कथन इस तथ्य को और अधिक पुष्ट करता है कि लोकसाहित्य में विविधताएँ आदिकाल से प्रचलित रही हैं। यदि उन सबका समावेश किया जाए तो यह नये प्रकार का लोक-साहित्य तैयार होगा। उदाहरणार्थ ; लोकगीतों में आये राम और कृष्ण-जन्म की कथाओं को देख सकते हैं। कहा जाता है कि हमारे देश में तीन सौ से भी अधिक रामायण लिखी गयी हैं और हरेक में राम, सीता, लक्ष्मण और रावण इत्यादि पात्रों के संबंध और कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

ऐसे और भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं जो परिणाम में तो नहीं परंतु घटनाओं के विषय में समतुल्य नहीं हैं। लोकसाहित्य में ऐसे बदलावों को सहर्ष स्वीकार भी लिया जाता है। लोक-साहित्य का सबसे बड़ा गुण यही है कि यह अलग-अलग भाषा-बोली और संस्कृति में होते हुए भी एकता की भावना से ओतप्रोत होता है। भाषा के तेवर को परिवर्तित करने पर भी इसके भावपक्ष में कोई बदलाव नहीं दीखता। हम लाख अलग-अलग क्षेत्रों एवं देशों की सीमा निर्धारित कर दें परंतु लोक-साहित्य इसे अपनी कलात्मक-शैली के माध्यम से समभाव की स्थिति में ला ही देता है।

यद्यपि इसीलिए देवेन्द्र सत्यार्थी ने कहा है कि – "लोक-साहित्य की छाप जिसके मन पर एक बार लग गयी फिर कभी मिटाये नहीं मिटती। सच तो यह है कि लोक-मानस की सौंदर्य-प्रियता कहीं स्मृति बन गयी है, तो कहीं आशा की उमंग या फिर स्नेह की पवित्र ज्वाला। भाषा कितनी भी अलग हो, मानव की आवाज़ तो वही है।"[20]

उक्त टिप्पणी लोक-साहित्य परंपरा की कसौटी पर खरा उतरता है।

अज्ञेय भी तो यही कहते हैं कि – "मैं सेतु हूँ

वह सेतु

जो मानव से मानव का

हाथ मिलने से बनता है।"[21]

'लोक' बंटवारा नहीं जानता और न ही मानता है, उसका काम है एकता के सूत्र में समाज और संस्कृति को बाँधना। उसका फ़लक बहुत बड़ा है, जहाँ अनंत 'लोक' की अनंत संभावनाएं छिपी होती हैं। तो क्या यह केवल एक संयोग भर ही था कि तुलसी दास ने स्वांतः सुखाय के लिए इतना बड़ा ग्रन्थ रच दिया – रामचरित मानस ! ज़ाहिर-सी बात है, नहीं क्योंकि इसके मूल में लोक-मंगल और लोक-मर्यादा की स्थापना की भावना मौजूद थी। जयदेव द्वारा 12वीं शताब्दी में गीत-गोविंद लिखा गया। प्रायः 1400 में कवि विद्यापति (जन्म-1369) ने मैथिली में पूर्वी बिहार की संस्कृति को उजागर करते हुए बृहत् लोक-साहित्य की रचना की और विद्यापति के पद आज भी लोक में प्रचलित हैं, अनेक अवसरों पर वे गाये जाते हैं :

"के पतिआ लए जाएत रे मोरा पिअतम पास।

एहि नहि सहए असह दुःख रे भेल साओन मास ॥[22]

हमारे समाज में विद्यापति के पद न जाने कब से गाये जाते रहे हैं। कई बार इनके तर्ज पर ही नयी पदावलियों को गा देते हैं लोक-गायक जिनके विषय में किसी को ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता। परंतु इसकी एक वास्तविकता यह भी है कि इस प्रकार के पदों की संख्या लोकप्रिय भजनों की तुलना में कहीं अधिक है और वे रसिकता में भी कहीं से कमतर नहीं।

बंगाली समाज में भी ऐसे अनेक लोक-साहित्य मौजूद हैं जिनका प्रभाव आज तक कायम है। वहां भी लोक-साहित्य के अंतर्गत लोक-गीत (बाउल), लोक-नाट्य, लोक-गाथा इत्यादि अपने आदिम प्रभाव के साथ मानव-समाज को आह्लादित करते आया है। बंगाल अपने बाउल गीतों के लिए देश-दुनिया में प्रसिद्ध है। एक समय था जब बाउल गीतों को सुनने के लिए लोग अपने रेडियो को अपने सीने से चिपकाए रहते थे। मेरी स्मृति में पिताजी, चाचा जी और गाँव के बड़े-बुज़ुर्ग हैं, जो रूणा लैला और गोष्ठो गोपाल के लोक-गीत सुनने के लिए अधीर रहते थे। रूणा लैला तो इतनी लोकप्रिय रही हैं कि उनके गीत आज तक लोगों की ज़ुबान पर हैं :

"बोंधू तीन दिन तोर बाड़िते गेलाम
देखा पाइलाम ना, बोंधू तीन दिन।
घूरा जाइते छोए आना
फिरा आइते छोए आना
आइते-जाईते बारो आना
ओसुल होइलो ना, बोंधू तीन दिन...ऽ...ऽ...ऽ"

उपरोक्त बाउल गीत बंगाली समाज और परिवेश के लिए मनोरंजन का अप्रतीम साधन है। यह दूसरी बात है कि समय के साथ ये लोक-गीत धूमिल होते गए। अब इन 'फ़ोक-गीतों' के प्रति लोगों का वो रुझान और आकर्षण नहीं रहा जो पूर्व में था, परंतु कथा की बुनावट इनमें आद्यांत शामिल

1. पतिया – पत्र
2. पिएतम – प्रियतम
3. साओन – सावन (महीना)
4. बोंधू – मित्र
5. बाड़ीते – घर
6. गेलाम – गयी
7. घूरा – घूमकर
8. होइलो ना – हुआ नहीं

रही है। यह सच है कि "पेशेवर कथा-वाचकों द्वारा संप्रेषित लोक आख्यान-काव्य या महाकाव्य हालाँकि इतिहास नहीं थे, जैसा हम आज परिभाषित करते हैं, लेकिन वे अतीत में रुचि जगाते थे और आख्यान की एक तकनीक मुहैया कराते थे।"[23]

इसी प्रकार एक और बाउल गीत है जो स्त्रियों की आत्मोदगार को दर्शाता है :

"आमार स्मृति थाक ना गांथा
आमार गीति माझे,
जेखाने ओइ झाउएर पाता
मर्मरिया बाजे।"[24]

लोक-गीत अथवा दंत-कथाएँ किस प्रकार लोक-साहित्य परंपरा बन जाती हैं, इसका एक उदाहरण राजस्थान की उस ऐतिहासिक घटना से समझ सकते हैं, जब उन्नीसवीं शताब्दी में जयपुर के महाराजा रामसिंह द्वितीय (1835-80) ने अंग्रेज़ों के साथ नमक-संधि की थी। इस घटना को लेकर एक अफवाह ये उड़ी कि अब नमक बहुत महँगा हो जाएगा ! और आगे चलकर इसी किंवदंती ने एक नये लोक-गीत को जन्म दिया :

"म्हारे राजा भोलो ए
सांभर तो दोनीं अंगरेज नीं
म्हारा टाबर मांगे ए
रोटी तीखे लूण की।"[25]

उपर्युक्त लोक-गीत का अर्थ यह है कि राजा ने बिना सोचे-समझे सांभर झील (जहाँ नमक बनता है) अंग्रेज़ों को दे दी। अब मेरे बच्चे तेज नमक की रोटी माँग रहे हैं, उसे मैं कहाँ से लाऊं।

लोक-गायकों की एक खूबी या यूँ कहें कि प्रतिभा यह भी होती है कि वे स्थानीय घटनाओं को तुरंत अपने कंठ में सजा लेते हैं। मुझे याद है बचपन में जब अपने गाँव में थी एक दुर्घटना हुई थी, जिसमें दो जवान भाई-बहन की मृत्यु एक साथ हो गयी। कुछ दिनों बाद इसी घटना के बारे में एक लंबे-दुबले-पतले कद-काठी का आदमी आँगन में आया और उसने उस पूरे घटना-क्रम को अपने शब्दों से ऐसे पिरोकर सुनाया था कि देख-सुनकर अचरज हुआ। एक बार को ऐसा लगा कि वह आल्हा-ऊदल ही सुना रहा है। मेरी स्मृतियों में केवल दो ही पंक्ति सहेजी हुई है –

"रोसी गेये सोरे
ओमप्रकाशेर बेटा-बेटी ला
गेये मोरे ...!"[26] (सुरजापूरी बोली)

अर्थात् रस्सी के सड़ने के कारण और लकड़ी के पुल के टूटने से जो दुर्घटना हुई उसमें ओम प्रकाश के दोनों बच्चे (बेटा-बेटी) की असामयिक मृत्यु हो गयी। यह गीत इतना कारुणिक था कि सुननेवाले की रूह काँप जाए।

हमारे गाँव की तरफ़ (बिहार में) ऐसे कवियों को 'भाट' कहते हैं, जिसका उल्लेख आदिकाल में भी किया गया है। 'भाट' का उल्लेख आलोचक नामवर सिंह ने भी किया है एक साक्षात्कार में 'बात बोलेगी हम नहीं'(2013)। 'भाटों' का पेशा भी यही था कि समाज में घटनेवाली सच्ची घटनाओं को लयबद्ध करके जीविकोपार्जन करना। इसी प्रकार 15 जनवरी 1934 में बिहार (सर्वाधिक प्रभावित मुंगेर) में आये भूकंप के विषय में भी कहा जाता है कि इस घटना को लेकर बहुत ही मार्मिक लोक-गीत तैयार किये गए स्थानीय गायकों एवं कवियों द्वारा। असल में लोक में घटी घटनाओं को जब कोई व्यक्ति या समाज अपनी स्मृतियों में संजो लेता है तो वह सुख-दुःख सबका अपना हो जाता है। यहीं से लोक-परंपरा का अंकुर फूटता है!

मनुष्य को सुखी और मोहित करनेवाले लोक-साहित्य की परम्पराएँ प्रत्येक समाज और देश में व्याप्त हैं। लोक-साहित्य द्वारा ही सदियों की सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व आंचलिक परिस्थितियों का परिचय मिलता आया है।

अतीत को वर्तमान से जोड़कर उसमें परस्पर समन्वय स्थापित करना लोक-साहित्य की एक अलग विशेषता रही है। फलतः इसका परिणाम यह है कि यह केवल सांस्कृतिक धरोहर एवं अतीत की झाँकी न रहकर आज भी जीवंत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। यह सच है कि आज के उपभोक्तावादी-उपयोगितावादी समाज में 'लोक' ने ही मानव की सरसता और सुंदरता को बचाये रखा है। वर्तमान में जहाँ सबकुछ बिकाऊ और बनावटी है वहीं लोक-साहित्य की धुनों ने अपने खाटीपन के साथ हमारी रूह को, आत्मा को ठंडक पहुँचाने का काम किया है। दुनिया के शोशे

*शब्द – अर्थ
1. रोसी – रस्सी
2. गेये – गया
3. सोरे – सड़ना
4. मोरे – मृत्यु हो गई

बाजी से दूर इसकी अपनी सुगंध है, अपना लय है, झंकार है और मन के तारों को झंकृत करनेवाली सादगी है। ... "लौटें लोक की ओर...!"

संदर्भ

1. माधव, नीरजा, 'हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास (1857-1947)', सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाडा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली -110002, प्रथम संस्करण : 2022 : पृष्ठ. 171, 174
2. . माधव, नीरजा, 'हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास (1857-1947)', सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाडा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली -110002, प्रथम संस्करण : 2022 : पृष्ठ. 173
3. वही, 171
4. वर्मा, धीरेन्द्र (प्रधान संपा.), 'हिन्दी साहित्य-कोश, भाग -1' (पारिभाषिक शब्दावली), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी - 1, (बनारस) 6173-20, द्वितीय संस्करण : संवत् 2020 : पृष्ठ. 753
5. https://www.allresearchjournal.com
6. https://en.wikipedia.org
7. . https://www.yourdictonary.com
8. सिन्हा, डॉ.चैताली, 'हिन्दी गद्य की धरोहर : किशोरीलाल गोस्वामी', प्रलेक प्रकाशन, 702, जे-50, ग्लोबल सिटी, विरार (वेस्ट), मुंबई, महाराष्ट्र – 401303, पहला संस्करण : 2022 : पृष्ठ : 13
9. नीलमणि, शंकर गिरिजा, मिश्रा सुधांशु (संपादित), 'हिन्दी की मौखिक और लोक साहित्य परंपरा', एकैडमिक पब्लिकेशन, बी-578, गली नं.8, नियर शांति पैलेश , पहला पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली-110090, प्रथम संस्करण : 2023 : भूमिका से .
10. https://www.britannica.com
11. नीलमणि, शंकर गिरिजा, मिश्रा सुधांशु (संपादित), 'हिन्दी की मौखिक और लोक साहित्य परंपरा', एकैडमिक पब्लिकेशन, बी-578, गली नं.8, नियर शांति पैलेश , पहला पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली-110090, प्रथम संस्करण : 2023 : पृष्ठ.9
12. वर्मा, धीरेन्द्र (प्रधान संपा.), 'हिन्दी साहित्य-कोश, भाग -1' (पारिभाषिक शब्दावली), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी - 1, (बनारस) 6173 - 20, द्वितीय संस्करण : संवत् 2020 : पृष्ठ. 754
13. https://www.allresearchjournal.com
14. ओझा, डॉ. दशरथ, 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास', पृष्ठ. 42
15. राजे, सुमन , 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास', भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली – 110003, पाँचवाँ संस्करण : 2015 : पृष्ठ. 27
16. वही
17. वर्मा, धीरेन्द्र (प्रधान संपा.), 'हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-1' (पारिभाषिक शब्दावली), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी - 1, (बनारस) 6173 - 20, द्वितीय संस्करण : संवत् 2020 : पृष्ठ. 753.

18. अमरनाथ, डॉ., 'हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली', राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002 : प्रथम संस्करण : 2012 : पृष्ठ. 316
19. https://www.nationalistonline.com
20. वही
21. https://www.hindwi.org
22. श्रीधरन, ई., 'इतिहास-लेख : एक पाठ्यपुस्तक', (अनुवाद – सलूजा, मंजीत सिंह), ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, 3-6-752 हिमायत नगर, हैदराबाद 500029 (तेलंगाना), भारत, प्रथम प्रकाशित : 2011 : पृष्ठ. 6
23. सेन, सुकुमार, 'बांग्ला साहित्य का इतिहास', (अनु. जैन, निर्मला), साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली – 110001, प्रथम संस्करण : 1971 : पृष्ठ. 356 - 357
24. माधव, नीरजा, 'हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास', सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002 : संस्करण : 2022 : पृष्ठ. 22

डॉ. चैताली सिन्हा
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
शहीद भगत सिंह सांध्य (महा.वि.),
शेख सराय, दिल्ली विश्वविद्यालय,
(दिल्ली -17)